

## पढ़ने की संस्कृति का पाठ

नवनीत बेदार

**पढ़ना** एक राजनैतिक क्रिया है। पढ़ने से हमारा माहौल, अपने आस-पास को देखने का हमारा नजरिया निर्धारित होता है। उससे हमारा वर्तमान और भविष्य सुधर या बिगड़ सकता है। इसीलिए तो अकबर इलाहाबादी जैसा शायर भी ये कहने के लिए (तंज में ही सही) मजबूर हो गया कि -

‘हम उन किताबों को काबिले जव्बी समझते हैं  
जिन्हें पढ़कर बेटे बाप को खव्ती समझते हैं।’

इस तरह की आवाज कई बार उठ चुकी है और दुनिया के इतिहास में कई बार इस तरह के प्रयास हुए हैं कि जनता या प्रजा के ‘पढ़ने’ को नियंत्रित किया जाए। दरअसल पढ़ना एक दरवाजा है जो हर बार किसी नए रास्ते की ओर खुलता है और हर बार एक नए अन्दाज में दुनिया देखने को प्रेरित करता है।

अगर शिक्षा के संदर्भ में बात की जाए और शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को आलोचनात्मक चिंतक न की क्षमताओं से युक्त करना हो जो अपने हर कर्म की जिम्मेदारी स्वयं ले सके और अपने तथा अपने आस-पास के माहौल को बेहतर जीवन के लिए तैयार कर सके तो ‘पढ़ना’ उसके लिए एक बेहद जरूरी काम हो जाता है। आज अगर हम अपने वर्तमान पर नजर डालें तो ये ‘पढ़ना’ केवल पाठ्य पुस्तकों तक सीमित रह गया है।

हमारे वर्तमान में पढ़ सकने के कई मायने मौजूद हैं। एक, साक्षरता के संदर्भ में कि व्यक्ति अपना नाम लिखना और हस्ताक्षर करना जानता हो; दूसरे, वह लिखित पाठ को डिकोड कर सकता हो; और तीसरा कि वह उसके कुछ अर्थ या निहितार्थ को समझ सकता हो। इस ‘निहितार्थ’ के शिक्षा के लिए कुछ सूक्ष्म मानी भी हैं। महज नाम लिख लेने का अभ्यास करा देना सरकारी आंकड़ों में तो साक्षर होना माना जा सकता है लेकिन शिक्षा के उपरोक्त उद्देश्य से ये बहुत दूर की बात है। इसी तरह लिखित वर्णों को पहचान लेना या उसको डिकोड कर लेना पढ़ना नहीं मान सकते, वरना केवल चित्र पठन करना और अकृतियों को समझ लेना पढ़ना मान लिया जाएगा। इसलिए हम पढ़ने के मानी लिखित भाषा के अर्थ निकाल सकने की क्षमता को मान रहे हैं। और इसी संदर्भ में पढ़ने को इस रिपोर्ट को लिखते समय देखा गया है।

अगर हमारी शिक्षा व्यवस्था को लेकर बात की जाए तो वहां इस ‘पढ़ने’ को सिरे से खारिज कर दिया गया है। वहां पढ़ने का मतलब किताब या पाठ्यपुस्तक के पाठ के अन्त में दिए गए सवालों के जवाब पाठ में खोजकर पढ़ लेना, रट लेना और उसके आधार पर परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना भर रह गया है। आरम्भिक से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा जिस तरह से नियंत्रित और आयोजित हो रही हैं उसमें छात्र ‘छात्र’ न रह कर मात्र परीक्षार्थी बन कर रह गए हैं। कहना न होगा कि इस व्यवस्था में स्कूली या कहीं पाठ्यक्रम के अतिरिक्त पुस्तकों की जरूरत ही नहीं है।

और अगर भारतीय मानस के ‘पढ़ने’ की बात की जाए तो रामचंद्र शुक्ल का वो कथन एक सपने-सा याद आता है कि ‘चंद्रकांता पढ़ने के लिए लोगों ने हिन्दी

### लेखक परिचय :

हिन्दी में पी.एच.डी., शिक्षा के क्षेत्र में कामधाम, कुछ लेख - हंस, बहुवचन कथादेश, इन्द्रप्रस्थ भारती आदि में प्रकाशित, संप्रति दिगन्तर में कार्यरत।

### सम्पर्क :

सी-29, रेल्वे कॉलोनी, जगतपुरा, जयपुर-25

सीखी।' पता नहीं पढ़ने की उस परम्परा को कौन-सा क्षय रोग लगा कि अब पढ़ने के नाम पर केवल अखबार या कुछ बाजारू पत्रिकाएं ही बची हैं। इसमें शायद कुछ योग तो बढ़ते बाजार का है और कुछ तथाकथित सांभ्यतिक विकास का। पाठक के पास इतना समय ही नहीं है कि वह अपने 'सेलेक्टेड' से कुछ इतर पढ़ सके। लेकिन ये वाकई सोचने का विषय है कि ये सेलेक्टेड पढ़ना हमें किस हद तक इंसान बनने में मदद करेगा ?

पढ़ना हमेशा केवल बाजार पर निर्भर नहीं रहा है। इसके लिए सामुदायिक और सरकारी प्रयास भी हुए हैं। सरकार ने विद्यालयों और पाठक वर्ग के लिए पुस्तकालय जैसी सुविधाएं मुहैया करने के कागजी प्रयास भी किए हैं।

हालांकि सैद्धांतिक तौर पर किताबों और पुस्तकालयों की जरूरत पर हमेशा बल दिया जाता रहा है। लेकिन ये चिंता केवल कागजी ही रही है। बच्चों का पढ़ने और सीखने से जो संबंध होता है या होना चाहिए वह कहीं नहीं दिखाई देता। हमारे देश में जहां अधिकांश लोग पढ़ने के लिए स्कूल पर निर्भर हैं और उन्हें घर पर ऐसा कोई माहौल नहीं मिलता जिसमें वे इस पढ़ने के मतलब को समझ सकें। उन स्कूलों में भी पढ़ने का मतलब ठीक से समझा नहीं जाता। इसी चिंता को लेकर उदयपुर की विद्याभवन सोसायटी और कुछ अन्य संगठनों ने मिलकर एक अंतर्राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस आयोजित की जिसमें लगभग 20-22 संगठनों के लगभग 150 लोगों ने भागीदारी की। इसके आयोजक थे दिल्ली विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर साइंस एज्युकेशन एण्ड कम्युनिकेशन; विद्याभवन सोसायटी उदयपुर; विद्याभवन टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज और विद्याभवन एज्युकेशन रिसोर्स सेंटर और आइ सी आई सी आई बैंक का सोशल इनीशिएटिव ग्रुप।

इस आयोजन में टेक्सस विश्वविद्यालय की प्रोफेसर कैरोल जेनिश, एन सी ई आर टी के निदेशक प्रोफेसर कृष्ण कुमार, दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रोफेसर साधना सक्सेना, प्रोफेसर विजय वर्मा, टेरी वर्मा, प्रोफेसर अमिताभ मुखर्जी, प्रोफेसर शोभा सिन्हा, दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष एस मजुमदार, कॉम डेल ट्रस्ट की निदेशक प्रतिभा कारंत के अतिरिक्त रूम टु रीड, युनिसेफ, एकलव्य भोपाल, दिगन्तर जयपुर, राजीव गांधी फाउन्डेशन दिल्ली और अनेक सरकारी, गैर सरकारी व निजी विद्यालयों में पुस्तकालय और पढ़ने को लेकर काम करने वाले लोगों ने शिर्षक की।

प्रोफेसर कृष्ण कुमार ने कॉन्फ्रेंस की शुरुआत जिस अंदाज से की उससे कॉन्फ्रेंस का एक ढर्रा तय होता नजर आता है। उन्होंने पढ़ने के प्रति भारतीय मानस के आम और खास नजरिए को रेखांकित करते हुए हमारी शिक्षा व्यवस्था में पढ़ने के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा कि 'जो हमारी शिक्षा व्यवस्था है उसमें

पुस्तकालय जैसी चीज की जरूरत ही नहीं है और इस कारण जिस चीज की जरूरत नहीं है वो पैदा नहीं होती तो बहुत चकित नहीं होना चाहिए। और न ही निराश होना चाहिए।' अपने इस तर्क के समर्थन में कृष्ण कुमार ने हमारी वर्तमान स्कूली व्यवस्था की भी पड़ताल की और बताया कि कैसे ये व्यवस्था पढ़ने के अर्थ को पाठ्य पुस्तकों तक सीमित करती है और 'पढ़ना' केवल परीक्षा केंद्रित होता जाता है। उन्होंने भारतीय परम्परा में भी इस तरह के संदर्भ इंगित किए जिसमें बच्चों को साहित्य से दूर रखने के प्रयास होते रहे हैं। कविता के संदर्भ में उन्होंने ये बात जोर देकर कही कि कविता को भावों से भरा माना जाता है और खास तौर पर लड़कों के लिए ये अच्छी चीज नहीं माना जाता क्योंकि भावनाएं उन्हें पौरुष से दूर करती हैं। इसकी तुलना करते हुए कृष्ण कुमार ने बर्लिन के अपने अनुभव के बारे में बात करते हुए बताया कि नाजी जर्मनी के दौर में एक बड़े आंगन में दुनिया भर के लेखकों की किताबों को जलाया गया था। इसको 'बुक बर्निंग प्लास्क' के रूप में जाना जाता है। उसकी याद में आज उस दिन को याद करते हुए उस आंगन के नीचे एक बहुत बड़ा स्मारक बनाया गया है और एक खास दिन वहां बहुत से लोग इकट्ठा होकर किताबें पढ़ते हैं।' इस उदाहरण के माध्यम से कृष्ण कुमार एक ओर तो साहित्य को अपौरुष मानने वालों के दमन का सांस्कृतिक उत्तर देते नजर आते हैं और दूसरी ओर भारतीय मानस में किताबों और उन्हें पढ़ने की संस्कृति न होने की ओर एक सरल इशारा भर करते नजर आते हैं। हालांकि हमारे यहां इस तरह के दमन नहीं हुए, लेकिन साहित्य के प्रति हमारी अपनी सोच इससे कुछ अलग नहीं रही है। हम अक्सर माता-पिताओं को बच्चों से ये कहते पा सकते हैं कि 'ये किस्से कहानी काम नहीं आएंगे, कुछ काम का पढ़ो। 'काम का' यानी पाठ्यपुस्तकें! पाठ्य पुस्तक अर्थात् कोर्स की किताबें, मानो दुनिया भर की बाकी किताबें 'पाठ्य' हैं ही नहीं। प्रो. कृष्ण कुमार का कहना था कि किताबों को लेकर हमारे मन में इस तरह के कई संशय मौजूद हैं। इनमें एक संशय किताबी कीड़ा होने को लेकर है। इस तरह की बातें न चाहते हुए भी उस संस्कृति को प्रोत्साहित करती हैं जिसमें किताब को संदेह से देखा जाता है। आधुनिक शिक्षा की जो संस्कृति जन्मी उसमें भी आंख का ज्यादा बारीकी से काम करने वालों का मजाक उड़ाया गया है। (और संभवतः इसीलिए चश्मा पहनने वाले लोगों के लिए 'चश्मिश' जैसे मजाक उड़ाने वाले संबोधन बने हों) और गांधी का शिक्षा दर्शन भी शायद इसीलिए हाथ के काम को ज्यादा तवज्जो देता है।

प्रो. कृष्ण कुमार ने अपने अंदाज में इस ओर भी इशारा किया कि भारत में पढ़ने-लिखने की संस्कृति विकसित हो रही है और उम्मीद करनी चाहिए कि आगे आने वाले समय में पुस्तकालयों और किताबों के प्रति ये बेरुखी कम होगी।

इसके अतिरिक्त प्रो. कृष्ण कुमार ने किताबों के चयन, उसकी राजनीति और हमारी उस सांस्कृतिक समझ के बारे में भी बात की जिसके तहत पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, वितरित होती हैं और बच्चों को कुछ चुनिन्दा पुस्तकों तक ही सीमित करते हैं और चाहते हैं कि वे हम जैसे ही बनें।

टेक्सस युनिवर्सिटी की प्रो. कैरल जैनिश ने पढ़ने और उससे बनने वाली समझ की बात करते हुए बताया कि आप लोगों को पढ़ने के लिए कैसे प्रेरित करें ? उन्होंने इस पर बात करने से पहले पढ़ने के अर्थ पर थोड़ी बात की।

पढ़ने की क्रिया को उन्होंने दो सिद्धांतों की मदद से समझाने का प्रयास किया। पहले उन्होंने स्कीमा सिद्धांत के बारे में बताया कि जो पूर्वज्ञान हमारे पास है उसे पढ़ने के दौरान हम उपयोग में लाते हैं। और इस क्रम में बॉटम अप रीडिंग और टॉप डाउन रीडिंग पद्धतियों का इस्तेमाल करते हैं। बॉटम अप रीडिंग के बारे में उन्होंने बताया कि जब पाठक किसी पाठ को पढ़ता है तो आम तौर पर शुरू से आरम्भ कर अंत तक जाता है। लेकिन कभी-कभी एक दो पेज पढ़ लेने के बाद अगर संदर्भ स्पष्ट न हो तो वह बीच से या कहीं आगे का पढ़ने लगता है, और जब संदर्भ उसे समझ में आ जाता है तो वह पाठ को पुनः पढ़ना आरम्भ करता है। अगर पाठ का संदर्भ पाठक के पूर्वज्ञान से संबद्ध नहीं है तो उसके लिए पाठ को समझना संभव नहीं होता है। और टॉप डाउन रीडिंग में पाठक अपने पूर्वज्ञान के आधार पर पाठ को सतत रूप से पढ़ता जाता है और उसके संदर्भ का निर्माण अपने पूर्वज्ञान के आधार पर करता जाता है।

मिसाल के तौर पर उन्होंने एक अंग्रेजी की पंक्ति प्रस्तुत की 'द नोट्स वर सॉवर बिकाज दे सीम्स टु बी स्प्लिट'। अब अगर आप सीधे इन शब्दों के मानी से इसका अर्थ निकलने का प्रयास करेंगे तो ये वाक्य बेमानी होगा, लेकिन अगर कोई व्यक्ति संगीत की जानकारी रखता है तो वह समझ सकेगा कि सुर खट्टे हो गए हैं क्योंकि (बैगपाइपर की) सीवन उधड़ गई है।

इसके अतिरिक्त प्रो. जैनिश ने मेटा-कॉग्नीशन सिद्धान्त के बारे में भी बात की। इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने बताया कि पाठक अगर पाठ का संज्ञान नहीं लेता है और उसका कोई अर्थ निर्माण नहीं करता तो वह पढ़ना, पढ़ना नहीं होता। पाठ का अर्थ पाठ में नहीं वरन् पाठक के पढ़ने पर निर्भर करता है। पाठक को सोचने के बारे में सोचना पड़ेगा, क्योंकि अर्थ का निर्माण उसे ही करना है।

दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रो. शोभा सिन्हा ने हिन्दी साहित्य की पढ़ाई के तौर तरीकों को लेकर बात करते हुए बड़े रोचक अंदाज में बताया कि हम किस तरह से पाठ के साथ खुद को और बच्चों

को जोड़ना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने रीडर रिस्पॉन्स थ्योरी की बात की। इस सिद्धान्त के अनुसार पाठक पाठ को पढ़ते हुए उसका अर्थ निर्माण करता है और प्रत्येक पाठक के लिए ये अर्थ अलग हो सकता है। इसमें पाठ के लेखक का मन्तव्य शामिल हो भी सकता है और नहीं भी। लेकिन हम कक्षा कक्ष में कैसे साहित्य में व्याख्या पर जोर देते हुए उस पाठ की लगभग हत्या कर देते हैं। इसी तरह बच्चों से पाठ के आधार पर पूछे गए सवालों की अर्थवत्ता पर भी सवाल उठाया कि गैर जरूरी और फिजूल के सवाल पूछकर दरअसल हम बच्चों को पाठ के नजदीक नहीं बल्कि उससे दूर ले जाते हैं और परिणामतः पढ़ने में रुचि पर उसका विपरीत असर पड़ता है। इसके बाद उन्होंने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि बच्चों के लिए जो भी पाठ्य सामग्री चुनी जाती है उसमें कोई न कोई शिक्षा जरूर टूस दी जाती है। हम इसकी कोई परवाह नहीं करते कि हमारे अनुभवों को बच्चे किस तरह से ग्रहण करते हैं और किस तरह से उनके आधार पर अपने ज्ञान का निर्माण करते हैं। और अंत में हम यही कहते पाए जाते हैं कि शिक्षा से हमारी जो आशाएं थीं, वे पूरी नहीं हुईं। दरअसल हमारा सारा ध्यान पुस्तकें खरीदने, उन्हें स्कूल में पहुंचा देने या बच्चों में बांट देने तक ही केंद्रित कर देते हैं। इस सब को कर देने भर से पढ़ने की रुचि जाग्रत हो जाएगी ये समझना भूल होगी। हम ये जानने की कोशिश नहीं करते कि बच्चे किस तरह की किताबें या सामग्री पसंद करते हैं। हम ये जानने की कोशिश नहीं करते कि बच्चों ने किताबों से क्या सीखा। अगर इस तरह की कोशिश होती भी है तो उसमें उसी तरह के प्रश्नों की बौछार होती है जिनसे बच्चे किताबें पढ़ने से दूर भागते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय की ही प्रो. साधना सक्सेना ने पढ़ना किसे कहें इस पर अपनी बात को केंद्रित किया। उन्होंने पढ़ने के मतलब को लेकर बताया कि पढ़ने को लोग बहुत साधारण और स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं। पढ़ने की प्रक्रिया को लेकर भारत में न तो कोई ज्यादा शोध हुआ है और न ही कोई सैद्धान्तिक समझ विकसित हुई है। जो पढ़ाई आज हो रही है उसमें ध्वनि और वर्ण पद्धति लेकर पढ़ाई होती है। उसमें अर्थ पर कोई जोर नहीं है। इससे बच्चों में अर्थ पकड़ पाने की क्षमता का विकास नहीं हो पाता क्योंकि वर्ण रटने के दौरान उन्हें उसमें कोई अर्थ नहीं मिलता। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि वर्ण पद्धति को लेकर हमारे शिक्षक वर्ग में एक जड़ता है। उन्होंने होशंगाबाद के प्राशिका के अपने अनुभवों को लेकर बात की। उन्होंने इमर्जेंट लिटरेसी की बात करते हुए पढ़ना सीखने से पूर्व की प्रक्रियाओं को भी पढ़ने का हिस्सा मानने पर जोर दिया। उनका मानना था कि बच्चे पढ़ना सीखने के क्रम में जब किताबों को उलटते-पलटते हैं, प्रिंटेड मीडिया के संपर्क में आना और दूसरों को पढ़ते देखते हैं तो वे खुद भी ये समझ रहे होते हैं कि इसमें

कुछ है जो ये पढ़ा जा सकता है। ये समझना भी पढ़ने की प्रक्रिया का हिस्सा है।

कॉम डेल ट्रस्ट की निदेशक सुश्री प्रतिभा कारंत ने ज्यादा से ज्यादा पढ़ने पर जोर देते हुए पढ़ने में दिक्कतों का सामना करने वाले बच्चों के बारे में तकनीकी जानकारी के साथ कई रास्ते भी सुझाए जिससे ऐसे बच्चों के साथ काम किया जा सकता है। उन्होंने बताया कि लिखित भाषा के मामले में हमारे मस्तिष्क के दायां हिस्सा सक्रिय होता है और ध्वनियों के मामले में बायां। भाषिक दृष्टि से चुनौती झेल रहे बच्चों के साथ काम करने के अपने अनुभवों से सुश्री चारु माथुर ने भी अवगत कराया।

दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री एस मजुमदार ने इंटरनेट के माध्यम से उपलब्ध हो सकने वाली सामग्री को वर्चुअल लाइब्रेरी बताते हुए उसके प्रसार करने की बात की।

एन इ जी फायर के मनीष जैन ने वंचित वर्गों के साथ काम किए जाने की जरूरत पर बल दिया। उन्होंने वर्ल्ड बैंक के साक्षरता एजेंडे को निशाना बनाते हुए बताया कि हमें काम कुछ इस तरह से करना है कि बच्चे महज विज्ञापन पढ़ सकने से ज्यादा सीख सकें।

इनके अतिरिक्त दिल्ली के कई विद्यालयों के पुस्तकालय इंचार्ज, शिक्षकों और बच्चों के साथ काम करने वाले कई स्वयं सेवी संगठनों के प्रतिनिधियों ने भी अपनी बात रखी। रूम टू रीड की ओर से प्रस्तुति की गई जिसमें उद्दालक के अपनी संस्था के कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए अपने काम के विस्तार पर बात की लेकिन उनकी बात मुख्यतः व्यवस्था और किताबें उपलब्ध कराने की बातों तक ही सीमित रही।

दिगन्तर की ओर से अजय गुप्ता ने अपनी प्रस्तुति में दिगन्तर विद्यालयों में एवं रूम टू रीड के सहयोग से चल रही पुस्तकालय परियोजना की रूपरेखा प्रस्तुत की और साथ ही पढ़ने के मायने के बारे में अपनी समझ और अपने स्कूलों में किताबों और पढ़ने को लेकर हो रहे काम की चर्चा की। अपनी बातचीत के दौरान पढ़ने को लिपि में अंकित विचार से अर्थ निर्माण की प्रक्रिया ही माना और जोर दिया कि इसके अतिरिक्त जो भी प्रक्रियाएं चलती हैं उन्हें हम पढ़ने का हिस्सा नहीं मान सकते। इसके अतिरिक्त उन्होंने बच्चे की भाषा को स्कूल में स्वीकृति देने की बात भी की।

सेमिनार के दूसरे और तीसरे दिन छोटे समूहों में बातचीत और चर्चा का सार्थक दौर भी चला जिसमें अनेक लोगों ने सफल भागीदारी की। इस सेमिनार की सफलता इसी में है कि शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले लोग पुस्तकालयों और पढ़ने की प्रक्रिया को एक सार्थक दिशा दे सकें। ◆